

# फिल्मों में नैतिक मूल्य एवं राष्ट्रीय जागरण

डॉ. मधुलता व्यास

सहयोगी प्राध्यापक

रेवाबेन मनोहरभाई पटेल कॉलेज, भंडारा

भारतीय सिनेमा आरंभ से ही मिली जुली संस्कृति का रूप रहा है। फिल्म कला को लोकप्रिय कला बनी रहने के लिए यह जरूरी है कि फिल्म का क्षेत्र संकीर्णताओं से ऊपर उठा रहे। राजनीति से भ्रमित स्वार्थ न हो। सिनेमा को इन संकीर्णता से लड़ते हुये अपने अस्तित्व को बनाये रखने की कोशिश रही है। समाज के लोगों में अगर समझ आ जाए तो युवा पीढ़ी फिल्मों का अनुकरण करना छोड़ देगी। फिल्म का अर्थ हिन्दी में चित्रपट होता है। पट याने परदा। फिल्म के चलचित्र और हकीकत में जिंदगी के दृश्यों में फर्क होता है।

सिनेमागृहों को मनोरंजन गृह भी कहा जाता रहा है, मनोरंजन खेल दोपहर 12 से 3, 3 से 6 इस तरह चार खेल होते थे और अब बिना मुँह धोये बाहुबली को देखने कृष्णकाय शरीर वाले भी सुबह 8 बजे मेट्रो सीटी में फिल्म की भीड़ में घुस जाते हैं। माँ के हाथ में गरम दूध का ग्लास धरा रहा जाता है, पिता कें होमवर्क की डॉट अनसुनी कर दी जाती है। फिल्म शो का यह नया चक्र समाज में क्या बाहुबली को निर्मित कर पायेगा? क्या बच्चों का आत्मिक, दैहिक और मानसिक विकास सही दिशा में होगा? पहले पटकथा लेखक, फिल्म निर्माता, दिग्दर्शक और सेंसर बोर्ड ये सभी समाज को मद्देनजर रखते हुये, फिल्मों को समाज के सामने प्रस्तुत थे और फिल्मों के शुभारंभ का बेइम्तिहां इंतजार होता था क्योंकि ये हमें जोड़ने का काम करती थी उनमें आदर्श निर्माण करने का उद्देश्य होता था कहानी का अंत परिवार की एकता, देशप्रेम और नायक-नायिका के बीच प्रेम होता था तो उसकी भावभूमि उच्च आदर्श प्रस्तुत करती थी।

पुराने जमाने की फिल्मों में हमारे देश की संस्कृति, सभ्यता तथा व्यक्तित्व निर्मित करनेवाले तत्वों को कहानियों के माध्यम से समेटा जाता था। जब दर्शक सिनेमा हॉल से बाहर निकलते थे तो उनकी आँखें नम रहती थी। ये जानते हुये भी यह कहानी काल्पनिक है, एक रचना है। ऐसी फिल्में हृदय परिवर्तन और जन जागृति पैदा करती थी। फिल्में जैसे कि 'वक्त', 'हरियाली और रास्ता', 'दोस्ती', 'उपकार' 'घर एक मंदीर है', जेमिनी की फिल्में जैसे 'बावर्ची' जिसमें राजेश खन्ना एक नौकर बनकर सभी घर परिवार के लोगों के मनमुटाव दूर करता है और आपस में रिश्तों को जोड़ता है। फिल्मों की कहानियाँ और उसके गीत दिलों पर छाप छोड़ देते थे। जैसे – भगवतीचरण वर्मा द्वारा लिखित 'चित्रलेखा' फिल्म में मीनाकुमारी और भारत भूषण जैसे किरदार थे। और उनके गीत आज के समाज को दिशा देते हैं – 'संसार से भागे फिरते हो भगवान को तुम क्या पावोगे, 'फिल्म' दोस्ती के गीत – चाहूँगा मैं तुझे साँझ सवेरे फिर कभी अब नाम को तेरे.... आवाज मैं न दूँगा। 'यही सच है' मन्नु भंडारी का उपन्यास जिसे फिल्म 'रजनीगंधा' नाम दिया उसका टायटल साँग 'रजनीगंधा फूल तुमहारे...' कमलेश्वरजी का 'काली आँधी' उपन्यास जिसे 'आँधी' फिल्म नाम दिया गया था। 'माय हार्ट इज बीटींग....' गीत अंग्रेजी शब्दों का होते हुये भी किसी पाँप साँग की तरह नहीं था वहीं सरलतम धुन थी.... आज 'हार्ट बीट' हो ना हो पर गाने की बीट पर पैर थिरकने चाहिए। काव्य शास्त्र की दृष्टि से शास्त्रीय विवेचना करू तो कहूँगी आज फिल्मी गीत अर्थ परक नहीं ध्वनिमूलक हो गये। पाश्चात्य काव्य मर्मज्ञ 'आनंदवर्धन' के काव्यसिद्धांत के निकट है।

ऐसा यथार्थवाद भी किस काम जो आसपास फैले वैमनस्य को नमक मिर्च लगाकर अपनी कहानियों में परोसे और समाज में नकारात्मक भावों के जागरण में, आग में घी का काम करें। फिर फिल्में देखें ही क्यूँ समाज को ही फिल्म समझ लें विस्तृत परदे की। यहाँ काम आता है साहित्य, वह अप्रत्यक्ष रूप से कल्पना के धरातल पर एक सामाजिक एक्थ के लिये उद्देश्यपूर्ण ढंग से कहानी को पटकथा में निरूपित करता है। फिल्म इसलिये देखने जाते थे कि किस नयी सकारात्मक दिशा से हम जुड़ सके।

जब तक फिल्में सिनेमागृह तक स्थिर थी लोग महिने में एक-दो बार चले जाया करते थे। हम उमरेड एन.सी.डी. सी. अभी W.C.L. कॉलोनी में रहते थे। बाबुजी ड्युटी से आते तो बाहर की खबर देते कहते आज जल्दी-जल्दी खाना बना लेना। गाड़ी आयी है कॉलोनी में फिल्म की पेटी लेकर और हम सबका उत्साह बढ़ जाता था। दौड़कर एक-दूसरे के घर में संदेश पहुँचाते। कॉलोनी में एक साथ आँगन में कोयले की सिगड़ीयाँ सुलगने लगती। फिर क्या एक जगह मैदान में प्रोजेक्टर और बड़ा फिल्म परदा लग जाता, 1 B क्वार्टर, 1 C क्वार्टर, माइनस क्वार्टर हर तरफ से चलकर टंड में दुशाला और चददर बिछाने की साथ लाते। एक साथ एक परिवार जैसा लगता था। लाइट जाते ही शोर मचाना, आते ही मचल जाना, खराब फिल्म पेटी आते ही जोर-शोर से आवाज उठाना, बच्चों के लिये विशेष माँग करके अच्छी फिल्में मँगवाना, एरिया मेनेजर से अपनी बातें मनवाना, वो भी क्या दिन थे।

अब इंतजार खत्म हुआ, चौबिस घंटे मूव्ही, टेलिविजन पर अलग-अलग चैनल पर, रसोईघर बेडरूम सभी जगह टी.वी. आ गया। टी.वी. के बाद स्मार्टफोन आ गये। फिल्मों के लिये इंतजार कैसा, डाऊनलोड कर लो। इस सुविधा ने समय प्रबंधन में बाधा डाल दी। अब चलचित्र तुम चलते-फिरते देख सकते हो आगे जमाना न जाने कहाँ होगा। इ-मीडिया ने विद्युत गति से क्रांति कर ली। बच्चों के शारीरिक विकास पर फिल्मों का असर गलत पड़ रहा है। जिस

तरह बच्चे बाल उम्र में खाली समय में मैदान में दौड़ना, पेड़ पर चढ़ना, लुका-छिपी खेलना, ये दिमाग पर प्रेशर डालनेवाले गेम नहीं थे बल्कि मन से उत्साह से खेले जाते थे और थककर घर आकर डटकर भोजन करते थे, फिर खूप पानी भी पीते थे। सहजता से हष्ट-पुष्ट रहते थे। उस समय किसी आहार विशेषज्ञ की जरूरत नहीं होती थी। स्टैंडर्ड के नाम पर आज बंद कमरे में टी.वी. गेम, मोबाईल गेम, काल्पनिक दुनियाँ में दौड़कर खुद को मानसिक रूप अवरूद्ध कर रहे हैं, जो एक निष्क्रियता और आलस पैदा करता है। इसलिये ब्लू व्हेल जैसे कार्यक्रमों पर रोक लगाना आवश्यक हो गया।

### तकनीकी सुविधाओं के अभाव में बुद्धिमत्ता पर जोर:-

“फिल्म कला के क्षेत्र में जब गुरुदत्त आदि के जमाने में तकनीकी सुविधाएं बहुत कम थी तब दादासाहेब फाल्के श्वेत फिल्मों को रंगीन दिखाने के लिए प्रयास करते रहे। कहीं दृश्य रात कि चांदनी का होता तो उसके लिए ब्लू प्रिंट, दिन का दृश्य हो तो पीली प्रिंट का इस्तेमाल करते। ‘लंकादहन’ फिल्म के लिए लाल प्रिंट प्रयुक्त की थी। साथ में सहयोगी थे वे घंटेभर तक कांच के सामने संभलकर प्रिंट पकड़कर खड़े रहते थे।”<sup>1</sup>

“हिन्दी साहित्य की कहानियों में काल्पनिकता का समन्वय कम किया जाता रहा है। क्योंकि साहित्य में तथ्यों का संबंध मानवजीवन से रहता है। मानवजीवन और मानवविज्ञान की विविध ज्ञात और अज्ञात, अनुभव और भावनाओं के समुदाय को आधार बनाकर चलता है। साहित्य का आधार सामाजिक सरोकार से होता है।”<sup>2</sup>

आज युवा पीढ़ी को दिशा देने वाली कौनसी फिल्में बन रही हैं? हर फिल्म का उद्देश्य कितने करोड़ कमायेंगे ये होता है। युवाओं के लिये केवल फिल्में लव-स्टोरियों पर आधारित हैं, देशप्रेम फिल्मों से गायब हो रहा है। 15 अगस्त, 26 जनवरी के लिये पुरानी कैसेट ढुँढनी पड़ती है। आज मनोजकुमार जैसा कोई कलाकार नहीं जो भारत की गरिमा बनाये आज फॅशन परस्त दुनियाँ में बाजार गरमाने के लिये हीरो की टी शर्ट, लॉकीट, जीन्स और हवाओं में बात करनेवाले डायलाग दिखाये जाते हैं। जो समाज को गुमराह करते हैं। बच्चों को जमीनी हकीकत से दूर रखते हैं। फिल्में अमीर-गरीब के बीच फासला पैदा कर रही है।

फिल्मों में नयापन नहीं है वे सूत्रवत् चल रही हैं, कई दृश्यों को कईबार अलग-अलग फिल्मों में देखा गया। जैसे-

1. ट्रेन छूट रही है, हीरो ट्रेन में है और नायिका को हाथ पकड़कर खींचता है।
2. प्लेन छूट रहा है हीरो तेजी से गाड़ी चलाकर बिना सिक्युरिटी चेक के प्लेन के अंदर पहुँच जाता है और हीरो हिरोइन को प्रेम का अहसास होता है।

क्या यह वास्तविकता से दूर नहीं। इन कहानियों का आधार लेकर तो आज कोई भी युवा पटकथा लेखक बन सकता है। यह कहना अतिशयोक्ति न होगा कि फिल्में केवल मनोरंजन का साधन बनकर रह गयी है। दो सौ रुपये की टिकिट लेकर मॉल में जाकर फिल्म देखने से तो अच्छा है दो सौ रुपये की किताबें खरीदकर पढ़ी जायें।

### फिल्मों द्वारा सच्चा नेतृत्व :

लोग फिल्म देखने को लालायित रहते थे और पहला प्रश्न होता था, इसमें नायक कौन है और उस फिल्म के कैरेक्टर को अपने में ढालने की कोशिश करते थे जिससे समाज में ऊंचा स्थान मिला है और आज फिल्म में केवल हीरो कौन है, कौनसा नया फॅशन, हेयर स्टाइल, हीरोइन से बोले जाने वाले डायलॉग याद रखते हैं। आज की फिल्में मनोरंजनात्मक हैं। पौराणिक, ऐतिहासिकता हमारी ताकत है, आत्मबल है। फिल्मों में व्यवसायिकता पीछे रहती थी। आदर्श, जीवन मूल्यवत्ता आगे रहती थी, तभी सच्चा और अच्छा जनमानस तैयार होता था।

दादासाहेब फाल्के बहुत गरीब घर से थे उन्होंने जर्मनी में प्रिंटिंग तकनीक की शिक्षा ली। 1911 में जब उन्होंने ‘लाइफ आफ काइस्त’ फिल्म देखी तो उनके सामने ‘लाइफ आफ कृष्ण’ का चरित्र घूमने लगा, फिर इसके लिए समय और तकनीकी कारण से बाद में बनाने का निर्णय लिया और उन्होंने भारतीय जनमानस में बसे ‘राजा हरिश्चंद्र’ पर फिल्म बनायी। इस पहली फिल्म का भारत में बहुत स्वागत हुआ और समाचार में लोकप्रियता हासिल की।”<sup>3</sup>

### फिल्मों में राष्ट्रीय जागरण का सूत्र:-

भारतीय सिनेमा आरंभ से ही मिली जुली संस्कृति का रूप रहा है। फिल्म कला को लोकप्रिय कला बनीरहने के लिए यह जरूरी है कि फिल्म का क्षेत्र संकीर्णताओं से ऊपर उठा रहे। राजनीति से भ्रमित स्वार्थ न हो। सिनेमा को इन संकीर्णता से लड़ते हुये अपने अस्तित्व को बनाये रखने की कोशिश रही है।

1947 विभाजन की त्रासदी पर बनी फिल्में मानवीय संवेदनाएं को उकेरती हैं। विस्थापन की त्रासदी को महिलाओं के अंतरद्वंद को फिल्मों में दर्शाया जैसे फिल्म धूल का फूल, अदालत, यश चोपड़ा के निर्देशन में बनी फिल्म धूल का फूल की

कहानी में अविवाहित स्त्री के बच्चे को एक मुसलिम प्रति है उसे एक अच्छा इंसान बनने की प्रेरणा देता है। इसी फिल्म का गीत है—“तू हिंदू बनेगा न मुसलमान बनेगा, इंसान की औलाद है इंसान बनेगा।”<sup>४</sup>

लाहौर (1949), अपना देश (1949), अमर रहे ये प्यार (1961) गांधी (1984), हे राम! (2000) जुबैदा (2001) में सीमा पार रह रहे रिश्तेदारों से न मिल पाने का दर्द है। इन फिल्मों को सपरिवार देखा जाता है। परिवार, समूह के साथ अपने देश से मानवीयता से जुड़े रहते हैं। राष्ट्रीयता की भावना जागृत करने वाली फिल्में हैं।

### फिल्म रणनीति और रीति:-

“श्याम बेनेगल, आर के स्टुडियो, दादासाहेब फाल्के, जेमिनी आदि की फिल्म बनाने की अपनी रणनीतियां थी। उनका यह मानना था कि—

- १) फिल्मों से किसी भी प्रकार की अराजकता न फैले।
- २) हिंसा से परहेज करना, समाज में दंगे न हो।
- ३) फिल्म की कहानी सोच समझ कर बनाना, पहले यह सोच लेना कि इसका समाज पर क्या प्रभाव पड़ेगा।”<sup>५</sup>

### संस्कृति का लोप हो रहा है फिल्मों में :

शब्द, संस्कृति, पौराणिकता परंपरा और सभ्यता के परिचायक होते हैं। आज यह बहुत आवश्यक हो गया है कि हम अपने लोकसाहित्य, चाहे भारत की किसी भी भाषा के अंचल का हो। वहाँ के लोकगीत, लोककथा, और हमारे साहित्य के गरिमामय संचित दोहे, पद, उपन्यास की कथायें इनको राजसंरक्षण मिले क्योंकि फिल्मों में इन्हें तोड़-मरोड़कर पेश किया जाता है, जिससे उसकी भावभूमि आहत होती है।

‘पायोजी मैंने राम रतन धन पायो’ — का ‘प्रेम रतन धन पायो’, सुरदास के भ्रमरगीत के पद जो विरह-वेदना की व्याकुलता को दर्शाते हैं उन्हीं पंक्तियों के भावों को लेकर कई गीत बने, सूली ऊपर सेज पिया की, किस विध मिलना होय।

चर्चित गीत ‘होठोंसे छू लो तुम-मेरा गीत अमर कर दो’। जब कक्षा में हरिवंशराय बच्चन को पढ़ाते हैं — तुम गा दो मेरा गान अमर हो जाये — तो हुबहु वही भावार्थ है। आज भी जनता भोली-भाली ही है, विशेषकर महिला वर्ग, इसलिये वे शीर्षक देखकर कि हम देखने आतुर हो जाती हैं, जैसे— ‘सत्यम-शिवम्-सुंदरम्’ शीर्षक कभी भी विधिवत कहानी के सार का मुखौटा होता है पर इस प्रकार शीर्षक रखकर भीड़ इक्कठी करने का काम किया जाता है।

वर्तमान की कुछ फिल्में जैसे— ‘हिन्दी मिडियम’ मैंने सोचा ‘इंगलिश विंगलिश’ के बाद किसी ने तो हिन्दी के लिये सोचा, किंतु फिल्म शुरू से आखरी तक अंग्रेजी स्कूलों के एडमिशन के स्टेट्स पर बनी। अंत में सरकारी स्कूलों के बच्चों की प्रतिभाओं को दिखाया गया। मैंने सोचा हिन्दी को स्थान भी दिया तो अंत में उद्देश्य के रूप में इसमें आधा भाग भी हिन्दी वाक्य, मुहावरे, प्रार्थना, गीत और संस्कृति सभ्यता का भाग दिखाया जाता फिल्म का स्वरूप कुछ और होता केवल बस्ती में रहनेवाले लोगों के लिये या गरीब बच्चे ही हिन्दी माध्यम में पढ़ते हैं ये प्रभाव नहीं होता। हिन्दी को अंतर्राष्ट्रीय वार्तालाप, और त्यौहार की एकता के साथ प्रस्तुत किया जाता तो हिन्दी की गरिमा बनी रहती।

फिल्में बनें तो ऐसी जिससे आज की ज्वलंत समस्याओं का निराकारण हो, देश में आयोजित विभिन्न सरकारी कार्यक्रमों पर लघु फिल्में तैयार होनी चाहिए, फिल्में 3 घंटे नहीं केवल दो घंटे की होनी चाहिए। क्योंकि तीन घंटे में कहानी में कोई उतार चढ़ाव या मूल परिवर्तन नहीं होता बस कारो की तेज दौड़, फाइटिंग सीन को लंबा खींचा जाता है। गीतों में अर्थ कम ध्वनियों संगीतवाद्य का ज्यादा जोर शोर होता है।

आज समाज को प्रगति पर ले जाने के लिये उन्हें परंपरा या संस्कृति से इतना भी दूर न ले जाया जाय कि वे अपने अस्तित्व को ढूँढते रह जाय, आधुनिकता के नाम पर बेबाक हो जाये, नीतिमूल्यों को भुला दे। एक सभ्य नागरिक ही देश का सच्चा नेता हो सकता है। सफल नागरिक समाज को सफल बनायेगा और देश उन्नति की ओर बढ़ेगा इसलिए हॉलीवुड बॉलीवुड के स्तर पर ऑस्कर अवार्ड में जानेवाली फिल्मों का भारत की गरीबी के दृश्यों से नहीं बल्कि गरिमामय उच्च भावभूमि वाली फिल्मों को सम्मिलित करना चाहिए क्योंकि भारत गरीब नहीं गरीबों पर दया करनेवाला देश है। शरणार्थियों की रक्षा करनेवाला देश है। यहाँ आधी रोटी भी बाँटकर खायी जाती है, भले ही गरीबी में रहें।

### संदर्भ :

1. फिल्म उद्योगी दादासाहेब फाल्के—लेखक गंगाधर महाम्बरे—अनुवाद रेखा देशपांडे, पृष्ठ 9६८, पहला संस्करण 2015, राधाकृष्ण प्रकाशन दिल्ली, महाराष्ट्र हिन्दी साहित्य अकादमी मुंबई के सहयोग से प्रकाशित।
2. शोध :स्वरूप एवं मानविकी व्यवहारिक कार्यविधि ,लेखक बैजनाथ सिंहल, पृष्ठ संख्या ८9, आवृत्ति 2016 वाणी प्रकाशन दिल्ली।

3. फिल्म उद्योगी दादासाहेब फाल्के—लेखक गंगाधर महाम्बरे—अनुवाद रेखा देशपांडे, पृष्ठ 9५६–9५9, पहला संस्करण 2015, राधाकृष्ण प्रकाशन दिल्ली, महाराष्ट्र हिन्दी साहित्य अकादमी मुंबई के सहयोग से प्रकाशित।
4. विभाजन और सिनेमा, लेखक जवरीमल्ल पारख, पृष्ठ 99६, आलोचना त्रैमासिक संपादक नामवर सिंह अंक ६0 अप्रैल–जून२०१६ राजकमल प्रकाशन नई दिल्ली ११०००२
5. लोकप्रिय सिनेमा के जरिये १६४७ का पुनर्निरीक्षण: भारत और पाकिस्तान एक तुलनात्मक अध्ययन, लेखक गीता विश्वनाथ, सलमा मलिक पृष्ठ 98। आलोचना त्रैमासिक संपादक नामवर सिंह अंक ६0 अप्रैल–जून२०१६ राजकमल प्रकाशन नई दिल्ली ११०००२

